बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 12 अंक 245

सही मिश्रण जरूरी

पेट्रोल के साथ मिलाने के लिए एथनॉल की उपलब्धता और आवश्यकता के बीच भारी अंतर को देखते हुए इसमें दो राय नहीं कि इसका उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता है। परंतु सरकार इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए जो प्रयास कर रही है वे पर्याप्त नहीं प्रतीत होते। इनमें सबसे बहसतलब है एथनॉल निर्माताओं (अधिकांशतया चीनी मिल मालिक जो इसे राब से बनाते हैं) द्वारा गन्ने के रस को सीधे अल्कोहल में बदलना।

इसके अलावा वे अधिशेष चीनी और खाद्यान्न मसलन गेहूं, चावल और मक्के को भी इसके लिए प्रयोग में लाते हैं। इतना ही नहीं सरकार ने इन कच्चे मालों के प्रयोग को बढ़ावा देने वाले कदम के रूप में इनसे बनने वाले एथनॉल की अपेक्षाकृत ऊंची कीमत तय की है।

ऐसे में किसान गन्ने की खेती और चीनी मिलें गन्ने की खरीद, चीनी बनाने के बजाय इस जैव ईंधन के लिए करेंगी। चूंकि गन्ना, गेहूं और चावल के उत्पादन में खूब पानी लगता है इसलिए कहा जा सकता है कि जैव ईंधन उत्पादन में इनका इस्तेमाल पर्यावरण के लिए किसी त्रासदी को आमंत्रण देने के समान है। इनके उत्पादन में लगने वाले पानी की लागत को केवल आर्थिक संदर्भ में नहीं आंका जा सकता। इसकी सामाजिक कीमत, पेट्रोल में एथनॉल मिलाने से होने वाली आर्थिक बचत से कहीं अधिक हो सकती है।

इतना ही नहीं भारत जैसे देश में जहां बुनियादी ढांचे, उद्योग धंधों और अन्य उद्देश्यों के लिए भी जमीन मुश्किल से मिलती है वहां जैव ईंधन फसल के उत्पादन में इसका इस्तेमाल समझदारी भरा नहीं होगा।

जहां तक खाद्यान्न की बात है, फिलहाल ऐसा लग सकता है कि अधिशेष अन्न को आसानी से जैव ईंधन बनाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है लेकिन देश में व्याप्त कुपोषण और भूख को देखते हुए इसे उचित ठहराना मुश्किल होगा। हकीकत में कई भूसंपदा समृद्ध और औद्योगिक देश, जो गैसोलीन में फसल से बनने वाला जैव ईंधन मिलाते हैं, वे भी अपनी नीतियों की समीक्षा कर रहे हैं। अध्ययन बताते हैं कि इससे फसल बुआई के तरीके बदल गए हैं और खाद्यान्न कीमतें बढ़ी हैं। जैव ईंधन वाली फसल उगाने के लिए वनों की कटाई की सलाह को भी पर्यावरणविद चुनौती दे रहे हैं। गौरतलब है कि ब्राजील तथा कुछ अन्य देश ऐसा कर रहे हैं।

एक अन्य बात जिस पर ध्यान देना जरूरी है वह यह कि भारत में गन्ने तथा खाद्यान्न से इतर तरीकों से भी एथनॉल तैयार करने की काफी संभावना मौजूद है जिसका पूरा दोहन होना अभी बाकी है। वर्ष 2009 की राष्ट्रीय जैव ईंधन नीति जिसे 2018 में संशोधित किया गया, वहां ग्रामीण और शहरी कचरे, सेलूलोसी और लिंगो सेलुलोसी बायोमास (कृषि के शुष्क पदार्थ) तथा गेहूं और धान के अवशेषों से एथनॉल का कच्चा माल तैयार किया जा सकता है। हालांकि ऐसा एथनॉल राब से बनने वाले एल्कोहल की तुलना में थोड़ा महंगा हो सकता है लेकिन फसल अवशेष जलाने के कारण होने वाले पर्यावरण नुकसान को रोककर यह भरपाई भी कर देता है। अच्छी बात यह है कि तेल विपणन कंपनियों ने इस विचार का समर्थन किया है और 11 राज्यों में ऐसी एथनॉल रिफाइनरी लगाने का काम चल रहा है। इस पर आगे और जोर देने की आवश्यकता है।

गैर खाद्य और तेजी से विकसित होने वाले शैवालों की मदद से एथनॉल बनाने की दिशा में शोध ने सकारात्मक परिणाम दिए हैं। ऐसी नवाचारी तकनीक की मदद से पर्यावरण के अनुकूल जैव ईंधन की आपूर्ति सुनिश्चित की जा सकती है। ऐसा करने से पर्यावास अथवा खाद्य सुरक्षा पर कोई बुरा असर भी नहीं होगा।

अजय मोहंती

भाजपा का घटता आधार मगर हिंदुत्व का प्रसार

भले ही भाजपा देश के कुछ ही महत्त्वपूर्ण राज्यों में सत्तारूढ़ है लेकिन हिंदुत्व की उसकी विचारधारा पूरे देश में अपना वर्चस्व कायम कर चुकी है

राष्ट्र की बात

शेखर गुप्ता

आप सब ने गिलास के आधा भरा या आधा खाली होने का किस्सा तो सुना ही होगा। इंडिया टुडे समूह के उस बहुचर्चित ग्राफिक को भी इस तरह देखा जा सकता है जिसमें 2017 से अब तक देश के राजनीतिक मानचित्र पर भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के तुलनात्मक विस्तार को दर्शाया गया है। पहली नजर में ग्राफिक बताता है कि इन दो वर्षों में देश के राज्यों पर भाजपा का शासन 71 फीसदी से घटकर 40 फीसदी रह गया। ऐसा तब है जब आपको लग रहा होगा कि पार्टी की लोकप्रियता चरम पर है और मोदी के अधीन उसका वर्चस्व बेहद मजबूत है।

यह गिलास के आधा खाली होने वाला तर्क है। आधे भरे गिलास वाली दलील कहती है कि गत मई के लोकसभा चुनाव के नतीजों पर नजर डालिए। राजनीतिक हकीकत साफ नजर आती है। समूचे उत्तर भारत, अधिकांश तटीय इलाकों तथा पूर्वी और पूर्वोत्तर भारत में भाजपा के सामने कोई चुनौती नहीं है। अगर दोबारा आम चुनाव हों तो भी नतीजे मई 2019 से अलग नहीं होंगे। तो मोदी के आलोचक किस बात का जश्न मना रहे हैं?

राजनीतिक हकीकत जटिल और बहुस्तरीय है और भगवा रंग की कई छवियां दिखाती है। आइए इन परतों को उघाड़ते हैं:

■ मोदी का व्यक्तित्व अपने आप में बहुत बड़ा है लेकिन इंदिरा गांधी जैसा नहीं है। दूसरी तरह देखें तो देश का मतदाता इंदिरा युग से अधिक परिपक्व है। वह लोकसभा और विधानसभा के लिए अलग-अलग चयन करता है।

ऐसे में इंदिरा की तरह मोदी भी चाहें तो अपनी पार्टी के टिकट पर एक खंभे तक को चुनाव जिता सकते हैं लेकिन केवल लोकसभा में। इंदिरा की तरह वह इस जादू को विधानसभा में नहीं दोहरा सकते। महाराष्ट्र का मामला थोड़ा जटिल है। हरियाणा के बारे में सोचिए। लोकसभा चुनाव के पांच महीने के भीतर हरियाणा में पार्टी का मत प्रतिशत करीब 22 फीसदी गिरा और 58 फीसदी से घटकर 36 फीसदी रह गया। तमाम दावों के बावजूद पार्टी को बहुमत तक नहीं मिल सका। जबकि हरियाणा में गहरी सैन्य और राष्ट्रवादी परंपरा है। यहां अल्पसंख्यक समुदाय के वोट सीमित हैं और चुनाव अनुच्छेद 370 हटने के 11 सप्ताह के भीतर हुए थे।

इससे पीछे जाएं तो 2014 में पूरा सफाया करने के बाद भी मोदी 2017 के अलावा उत्तर प्रदेश, हरियाणा, उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश और असम में वैसी जीत नहीं पा सके। 2015 में दिल्ली और उसके बाद पंजाब में उन्हें हार का सामना करना पड़ा। गुजरात में मामला एकदम करीबी रहा। कर्नाटक में कांग्रेस के खिलाफ सत्ताविरोधी माहौल तथा बेल्लारी बंधुओं के साथ शर्मनाक समझौते के बावजूद भाजपा को बहुमत नहीं मिला। मध्य प्रदेश, राजस्थान और छत्तीसगढ़ में भी पार्टी को हार का सामना करना पड़ा। पंजाब के अलावा जिन राज्यों में भाजपा हारी या निर्णायक जीत पाने में नाकाम रही, उन सभी में उसे लोकसभा चुनाव में जबरदस्त जीत मिली। यहां तक कि दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में भी उसे शानदार जीत मिली।

■ सबसे अहम, इंदिरा युग में जहां एक दल के दबदबे को स्वीकार कर लिया गया था, उसके उलट देश अब अधिक संघीय व्यवस्था वाला हो गया है। यदि मतदाता लोकसभा और विधानसभा के लिए अपने चयन में अंतर करता है तो भले ही मतदाता भाजपा के विरोधी न हों लेकिन इससे नवीन पटनायक, के चंद्रशेखर राव, वाई एस जगनमोहन रेड्डी जैसे नेताओं का साहस बढ़ता है जो भाजपा के बड़े शत्रु नहीं हैं।

यह केजरीवाल और ममता बनर्जी जैसे भाजपा के शत्रुओं को भी सुकून देता है। लोकसभा चुनाव में संघर्ष के छह महीने बाद तीन उपचुनावों में ममता बनर्जी को जीत मिली है। दो सीटों पर तो बहुत भारी अंतर से।

तीसरी श्रेणी के जो क्षेत्रीय नेता इससे प्रसन्न होंगे वे भाजपा के साझेदार हैं। इनमें नीतीश कुमार शीर्ष पर हैं। बिहार में अगले साल चुनाव होने हैं। इस श्रेणी में प्रफुल्ल कुमार महंत असम में और दुष्यंत चौटाला हरियाणा में आकांक्षा पाल सकते हैं।

■ सर्वेक्षण भाजपा के अधीन 17 राज्य बता रहा है जो आधा सच है। इनमें से कुछ मसलन बिहार और हरियाणा में उसकी साझेदारी ऐसे दलों से है जिनसे उसकी वैचारिकी बिल्कुल नहीं मिलती। मेघालय, नगालैंड और मणिपुर को अभी भी भाजपा की पहुंच वाले राज्य नहीं माना जा सकता। सिक्किम और मिजोरम राजग के हिस्से हैं लेकिन भाजपा के नहीं। एक अनकहा सच यह है कि भाजपा के पास केवल तीन बड़े राज्य हैं: उत्तर प्रदेश, गुजरात और कर्नाटक। कर्नाटक की स्थिति से सभी वाकिफ हैं।

■ मोदी-शाह के उदय के बाद भाजपा ने एक ही फॉर्मूला अपनाया है। हिंदी प्रदेशों और दो बड़े पश्चिमी प्रदेशों में जीत के साथ देश पर राज। क्योंकि यहां वहां कुछ छोटी मोटी सफलताओं के साथ ऐसा आसानी से हो सकता था।

अगर इसे राज्यों में नहीं दोहराया जा सकता तो आपका मुकाबला संघवाद से है। यानी आपको मुख्यमंत्रियों से बातचीत करनी होगी, कुछ लेनदेन पर सहमति देनी होगी और इस हकीकत के साथ जीना होगा कि विरोधी दलों के शासन वाले राज्यों में पुलिस और कानून व्यवस्था पर उनका राज होगा। हो सकता है कुछ राज्य आयुष्मान भारत जैसी आपकी अच्छी और बड़ी योजना तक को लागू करने से मना कर दे। उनको आदेशित नहीं किया जा सकता है। कई बार उनसे समानता का व्यवहार करना होता है। इसके लिए तौर तरीकों में बदलाव जरूरी है। प्रधानमंत्री अक्सर जिस सहकारी संघवाद की बात करते हैं वह केवल मंत्र नहीं बल्कि आवश्यकता है।

■ महाराष्ट्र पर नजर डालें। राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी (राकांपा) और कांग्रेस ने शिवसेना का साथ इसलिए दिया क्योंकि दोनों दल अस्तित्व और सत्ता की लड़ाई लड़ रहे थे। परंतु शिवसेना क्यों अलग हुई? इसलिए क्योंकि उसे लग रहा था कि प्रांत में भाजपा के विस्तार के साथ उसकी वैचारिक जमीन खतरे में है। शिवसेना की बगावत सीधे-सीधे एक दलके दबदबे से बचाव का उसका तरीका है।

■ केंद्र-राज्य संबंध सन 1989 से 2014 के बीच के 25 वर्ष वाले दौर में लौट सकते हैं। महाराष्ट्र से आ रही आवाजों को सुनिए: बुलेट ट्रेन का विरोध, मेट्रो के खिलाफ धमकियां। आंध्र प्रदेश ने अमरावती योजना रद्द कर और सिंगापुर से लेकर खाड़ी के लूलू समूह तक विदेशी साझेदारों को बाहर करके देश की एफडीआई के अनुकूल होने की छवि पर सवालिया निशान छोड़ दिए हैं। प्रधानमंत्री को इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों को भी गले लगाना होगा जैसे वह विदेशी राष्ट्राध्यक्षों को लगाते हैं।

■ इन सबसे बड़ा मुद्दा है राष्ट्रीय नागरिक पंजी यानी एनआरसी। ममता बनर्जी भले ही इसे खारिज करने वाली पहली नेता हों लेकिन संभावना यही है कि अधिकांश गैर भाजपा शासित राज्य इस विभाजनकारी, खतरनाक और अपने प्रतिकूल विचार को अस्वीकार करेंगे। पूर्वोत्तर के छोटे राज्यों को अपने जनमत से निपटना होगा जो कि नागरिकता संशोधन विधेयक के खिलाफ है। ऐसे में देखें तो एनआरसी का क्रियान्वयन करना मुश्किल ही है। यह चुनावी कारणों से सांप्रदायिक ध्रुवीकरण करने वाला विचार बना रहेगा। वैसे ही जैसे तीन दशक तक राम मंदिर रहा। एनआरसी-सीएबी के मेल के रूप में इसे आगे बढ़ाना मुश्किल है।

■ आखिर में अगर आपको लग रहा है कि मैं केवल भाजपा की कमियां गिन रहा हूं तो ग्राफ को एक बार पुन: देखिए। भगवा विस्तार सिमटता दिख रहा है। यह सीमित चुनावी हकीकत है। वैचारिक तस्वीर को देखिए तो पूरे भारत में आपको ऐसा मुख्यमंत्री नहीं मिलेगा जिसने अनुच्छेद 370 हटाने और अयोध्या मामले पर सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की आलोचना करना तो दूर, उसका स्वागत न किया हो।

बीते दशकों में भाजपा और आरएसएस के इन पसंदीदा मुद्दों ने भारतीय राजनीति का ध्रुवीकरण किया है। अब कश्मीर और राम मंदिर बल्कि समान नागरिक संहिता पर भी आम सहमति बनती दिख रही है। यहां तक कि केरल की वाम मोर्चा सरकार भी सबरीमला में सर्वोच्च न्यायालय के आदेश का पालन कराने का साहस न कर सकी। राहुल गांधी भी सार्वजनिक रूप से अपने जनेऊ का प्रदर्शन करते हैं, मंदिर जाते हैं और उच्च ब्राह्मण गोत्र दर्शाते हैं।

भारतीय मानचित्र के राजनीतिक रंग अब भाजपा और आरएसएस के भगवा रंग में रंग चुके हैं। भाजपा न सही, आरएसएस अब अपनी जीत की घोषणा कर सकता है। हेडगेवार, गोलवलकर और सावरकर अवश्य इस पर सहमत होते।

एलजीबीटीक्यू समुदाय को लेकर पूर्वग्रह से ग्रस्त है कारोबारी जगत

जिंदगीनामा

कनिका दत्ता

भारत सरकार पहले क्षेत्रीय व्यापक आर्थिक साझेदारी (आरसेप) में शामिल होने की प्रक्रिया में थी लेकिन बाद में ऐन वक्त पर उसने अपने कदम वापस ले लिए। ऐसा प्रतीत होता है कि देश का कारोबारी जगत यही मानता है कि वह अगले 25 वर्ष की अवधि में रखते हुए चीनी उद्यमों से मुकाबला नहीं कर सकता। आरसेप की वार्ताओं में 25 वर्ष की समायोजन अवधि की बात कही गई है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि देश के कारोबारी जगत के दिग्गज सरकार के समक्ष खड़े होने के मामल में भीरू हैं। यदि कभी कोई मुख्य कार्याधिकारी (सीईओ) सार्वजनिक रूप से छोटी सी भी आलोचना करता है तो यह हमेशा सुर्खियां बन जाती है। अब ऐसा लगता है कि देश का कारोबारी जगत नए लोगों को काम पर रखने के मामले में भी प्रतिगामी है।

यहां मेरा तात्पर्य कॉर्पोरेट जगत में लैंगिक विविधता की कमी से नहीं है। हालांकि यह भी सच है। हम बात कर रहे हैं बेनेट कोलमैन मीडिया समूह के स्वामित्व वाले जॉब पोर्टल टाइम्सजॉब के एक सर्वेक्षण की जो विविधता और समावेशन पर आधारित था। सर्वेक्षण का सबसे अहम निष्कर्ष यह रहा कि भारतीय कारोबारी जगत में समलैंगिक समुदाय को लेकर पूर्वग्रह का भाव है। विभिन्न कंपनियों के जिन 1,137 पेशेवरों से सर्वे में बात की गई उनमें से 77 फीसदी ने कहा कि उनका ऐसा कोई सहयोगी नहीं है जो एलजीबीटीक्यू (समलैंगिक, ट्रांसजेंडर तथा ऐसे अन्य) समुदाय से ताल्लुक रखता हो। जबकि 83 फीसदी ने कहा कि वरिष्ठ पदों पर ऐसा कोई नहीं जो वैकल्पिक यौन रुझान रखता हो।

यहां यह सवाल है कि आखिर सर्वेक्षण में शामिल कर्मचारियों ने अपने सहकर्मियों और वरिष्ठों की यौन प्राथमिकताओं से जुड़े सवालों के जवाब कैसे तलाशे होंगे। यह विचार भी अकल्पनीय है कि देश के कारोबारी जगत में कोई समलैंगिक काम नहीं करता होगा लेकिन यह विषय अभी भी इतना वर्जित है कि कार्यस्थल पर वैकल्पिक यौनिक रुझान वाले लोग गुपचुप रहना ही अधिक बेहतर मानते हैं।

इस अवधारणा में चकित करने वाली कोई बात नहीं। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 377 हटाए जाने के बावजूद कॉर्पोरेट जगत में इस विषय को लेकर इतनी अधिक खामोशी है। यह अपने आप में बताती है कि समलैंगिकता को लेकर किस कदर भेदभाव वाला माहौल है। एलजीबीटीक्यू समुदाय के अधिकारों का मुद्दा जनसंपर्क विभागों के लिए भी मायने नहीं रखता जबकि कारोबारी सामाजिक दायित्व कार्यक्रमों के तहत बनने वाले शौचालयों और गरीब बच्चों को मध्याह्न भोजन देने की तमाम खबरें छाई रहती हैं। चौंकाने वाली बात यह भी है कि करीब 65 फीसदी कर्मचारियों ने कहा कि उन्हें धारा 377 के समाप्त होने के बाद भी नीतियों में कोई परिवर्तन देखने को नहीं मिला। हालांकि सर्वेक्षण ने यह नहीं बताया कि जिन 35 फीसदी लोगों ने कहा कि उन्होंने कुछ बदलाव दर्ज किया है, उन्होंने किस प्रकार के बदलाव कंपनियों में देखे।

आखिर किस तरह के नीतिगत बदलाव की अपेक्षा की जानी चाहिए? सबसे बुनियादी है समलिंगी साथियों (अभी समलिंगी विवाह को वैधानिक मंजूरी नहीं है) और उनके बच्चों को तमाम सुविधाएं प्रदान करना। कुछ कंपनियों ने अपनी मानव संसाधन नीतियों में बदलाव किया है। उदाहरण के लिए गोदरेज समूह और इन्फोसिस ने बिना लिंग का उल्लेख किए 'साथी' को ये सुविधाएं देने की व्यवस्था की है। ओयो समूह की बीमा नीति में भी 'अन्य' को शामिल किया गया है।

> सर्वेक्षण में निष्कर्ष यह रहा कि भारतीय कारोबारी जगत में समलैंगिक समुदाय को लेकर पूर्वग्रह का भाव है। विभिन्न कंपनियों के जिन 1,137 पेशेवरों से बात की गई उनमें से 77 फीसदी ने कहा कि उनका ऐसा कोई सहयोगी नहीं है जो एलजीबीटीक्यू समुदाय से ताल्लुक रखता हो

समस्या का एक बड़ा हिस्सा यह है कि देश के बैंकिंग और बीमा उद्योग की नीतियों में अभी ऐसे बदलाव बाकी हैं जिनकी मदद से खाताधारक ऐसे लोगों को लाथार्थी बना सकें जो उनके रिश्तेदार न हों। बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस समस्या से निजात पाने के लिए विदेशी सेवा प्रदाताओं से बीमा कराती हैं। उनके पास ऐसी पेशकश रहती है। परंतु उनके यहां भारतीय कामगार तबके का बहुत छोटा हिस्सा काम करता है। ऐसी पहल देश के कारोबारी जगत के समलैंगिकता विरोधी माहौल में बहुत मामूली हैं। आश्चर्य नहीं कि 54 फीसदी लोगों ने कहा कि उनकी कंपनी कभी एलजीबीटीक्यू समुदाय के किसी सदस्य को काम पर नहीं रखेगी।

सर्वेक्षण में कॉर्पोरेट जगत में दिव्यांग पेशेवरों और महिलाओं को काम पर रखने की स्थिति को लेकर और निराश करने वाली सूचनाएं हैं। इनमें से तमाम बातें इतनी स्पष्ट हैं कि अब लोग इन पर टिप्पणियां भी नहीं करते। निजी क्षेत्र के प्रवर्तक निहायत सांप्रदायिक भी हैं। सच्चर समिति की रिपोर्ट अरसा पहले इस बात को रेखांकित कर चुकी है। परंतु देश के कारोबारी जगत के अधिकांश हिस्से में व्याप्त संस्कृति के बारे में एक निष्कर्ष दिलचस्प दृष्टि डालता है। करीब 40 फीसदी लोगों ने कहा कि कार्यस्थल पर किसी के बारे में राय बनाने में शारीरिक प्रस्तुतिकरण, जातीयता और व्यक्तिगत पसंद और प्राथमिकता की अहम भूमिका है। यह मानव स्वभाव है लेकिन प्रतिस्पर्धी माहौल में काम कर रहे प्रबंधन को क्षमता और प्रतिभा को भी कुछ तवज्जो देनी चाहिए। जो लोग इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि आखिर क्यों 21वीं सदी में देश के कारोबारी समूहों की कार्य संस्कृति पर 20वीं सदी की छाप है, उन्हें ऐसे निष्कर्षों से मदद मिल सकती है।

कानाफूसी

चुनाव की तैयारी

बिहार के प्रमुख विपक्षी दल राष्ट्रीय जनता दल (राजद) ने नया प्रदेश अध्यक्ष चुन लिया है। पार्टी प्रदेश में पिछले अध्यक्ष रामचंद्र पूर्वे को हटाकर पूर्व सांसद और लालू प्रसाद के करीबी माने जाने वाले राजनेता जगदानंद सिंह को नया प्रदेश अध्यक्ष बनाया है। सिंह के बारे में सामने आई जानकारी के मुताबिक वह विवादों से दूर ही रहते हैं तथा उनका स्वभाव भी काफी शांत माना जाता है। स्थानीय स्तर पर चल रही खबरों पर भरोसा करें तो कहा जा सकता है कि लालू प्रसाद के वारिस और उनके बेटे तथा बिहार के पूर्व उपमुख्यमंत्री तेजस्वी यादव पूर्वे से कतई प्रसन्न नहीं थे। बिहार में अगले वर्ष यानी 2020 में विधानसभा चुनाव होने हैं। ऐसे में चुनाव करीब आने के साथ ही पूर्वे के स्थान पर सिंह को प्रदेश अध्यक्ष बनाने का एक मकसद पार्टी पार्टी द्वारा राजपूतों तथा उच्च वर्ग के अन्य लोगों को अपने साथ जोड़ने का भी हो सकता है। अभी यह तबका पार्टी के साथ नहीं रहा है। यह बात महत्त्वपूर्ण है क्योंकि राजद को आमतौर पर यादवों और मुस्लिमों के दल के रूप में ही पहचाना जाता है।

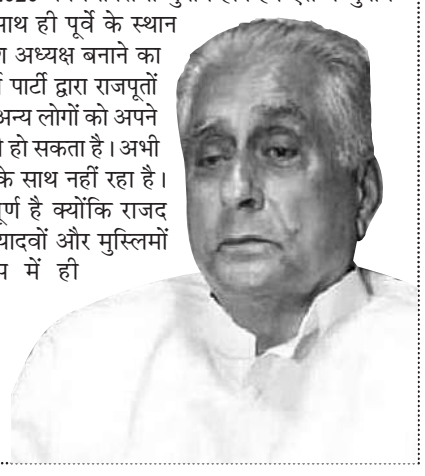

आपका पक्ष

सड़क दुर्घटनाओं में मारे जाते हैं हजारों बेकसूर

देश में हर साल औसतन 19,620 बेकसूर लोग सड़क दुर्घटनाओं में मारे जाते हैं। इन लोगों का कसूर इतना है कि वे सड़क पार कर रहे होते हैं या फिर सड़क के किनारे चलते हैं। यह आंकड़ा सड़क दुर्घटनाओं में मारे जाने वाले कुल लोगों की संख्या का 12 प्रतिशत है। सड़क दुर्घटनाओं में अक्सर वाहन सवार की मौत होती है लेकिन पैदल चलने वाले बेकसूर लोग भी वाहनों की लापरवाही के कारण मारे जाते हैं। परिवहन मंत्रालय के अनुसार वर्ष 2016 में देश में सड़क दुर्घटनाओं में 1,50,785 लोगों की मृत्यु हुई जिनमें 15,746 पैदल यात्री थे। वर्ष 2017 में सड़क दुर्घटनाओं में 1,47,913 लोगों की जान गई जिनमें 20,457 पैदल यात्री थे। वर्ष 2018 में 1,51,417 लोग सड़क दुर्घटनाओं का शिकार हुए जिनमें 22,656 पैदल यात्री थे। इन तीन वर्षों में औसतन 19,620 बेकसूर लोग वाहनों की चपेट में मारे गए हैं। सरकार के अनुसार पिछले तीन वर्षों में सबसे अधिक मामले तमिलनाडु में सामने आए हैं। इसके बाद महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, केरल, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल,

तेलंगाना हैं। तमिलनाडु में वर्ष 2016 में 2,966, वर्ष 2017 में 3,507 और वर्ष 2018 में 768 पैदल यात्रियों की जान गई थी। महाराष्ट्र में वर्ष 2016 में 2,103, वर्ष 2017 में 1,831 और वर्ष 2018 में 2,515 पैदल यात्रियों की मृत्यु हुई थी। मध्य प्रदेश में वर्ष 2016 में 1,627, वर्ष 2017 में 1,280 और वर्ष 2018 में 1,504 पैदल यात्री मारे गए थे। सरकार ने पैदल यात्रियों की सुविधाओं के दिशानिर्देश प्रकाशित किए हैं। सरकार पैदल यात्रियों के लिए फुटपाथ, फुट ओवरब्रिज तथा अन्य सुविधाओं पर गौर कर रही है। सड़क पार करते समय लोगों को भी सावधानी बरतनी चाहिए। आज की भागदौड़ की जिंदगी में लोग काफी जल्दबाजी में रहते हैं। लोग जहां जगह मिले वहां से सड़क पार करने लग जाते हैं। इस लापरवाही के कारण उन्हें अपनी जान गंवानी पड़ती है। सड़क के बीच में डिवाइडर या लोहे की ग्रिल लगाई जाती है जिससे लोग सड़क पार नहीं कर सके। लेकिन कुछ लोग लोहे की ग्रिल को फांद कर सड़क पार करने लगते हैं। जिससे कई बार तेज गति से आ रही गाड़ी के सामने अचानक से आ जाते हैं। इस स्थिति में दुर्घटना हो जाती है और दोष वाहन चालक पर मढ़ दिया जाता है। अत: सरकार को इसपर विचार करके उचित उपाय खोजने की जरूरत है।

> **देश में हर साल औसतन 19,620 पैदल यात्रियों की सड़क दुर्घटनाओं में मौत हो जाती है**

अंकुर सिंह, नई दिल्ली

विकास में महिलाओं की भागीदारी महत्त्वपूर्ण

देश में महिलाओं की स्थिति आजादी के बाद से बहुत बदली नजर आती है। लेकिन इस स्थिति को सबकुछ नहीं माना जा सकता है। अगर हमें सुसभ्य, सुंदर समाज का निर्माण करना है तो हमें महिलाओं को भी उसी दिशा में कार्य कराना होगा। अर्थात लिंग विभिन्नता को छोड़कर समान अवसर उपलब्ध कराने होंगे। स्वामी विवेकानंद के अनुसार एक पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकती है। उसी प्रकार हमारा समाज भी सिर्फ पुरुषों के बलबूते ही सबकुछ हासिल नहीं कर सकता है। हमें चाहिए कि हर क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ाया जाए। बहुत सी महिलाएं राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर परचम लहरा रही हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आज भी कितनी लड़कियों को गर्भ में ही मार दिया जाता है। अगर उन्हें दुर्भाग्यवश मारा नहीं जाता है तो उन्हें असमानता की दृष्टि से देखा जाता है। केंद्र सरकार और राज्य सरकार द्वारा महिलाओं के लिए कई पहल शामिल की जाती हैं जो कुछ हद तक प्रभावित भी करती हैं। फिलहाल मध्य प्रदेश सरकार द्वारा अच्छी पहल शुरू की गई है। इसमें एक से छह वर्ष के बच्चे तथा गर्भवती महिलाओं को सप्ताह में तीन दिन अंडे दिए जाएंगे। जो अंडा सेवन नहीं करते हैं उन्हें फल दिए जाएंगे। यह पहल महिलाओं को सशक्त बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।

सुप्रिया कुमारी, पटना

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in
पत्र/ईमेल में अपना डाक पता और टेलीफोन नंबर अवश्य लिखें।